साधु रहे तीन विषों से सावधान

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा.

श्रमण-जीवन में आत्म-शोधनपूर्वक सजगता के साथ साधना में आगे बढ़ा जाता है तथा बाधक निमित्तों से दूर रहना होता है। आचार्य हस्ती ने दशवैकालिक सूत्र के आधार पर श्रमण को 1. विभूषा, 2. स्त्री-संसर्ग और 3. प्रणीतरस भोजन इन तीन विषों से दूर रहने की प्रभावी प्रेरणा की है, क्योंकि साधनाशील जीवन में ये तीनों बाधक एवं घातक हैं। यह प्रेरणा प्रत्येक साधु-साध्वी की साधना में हितकर है। -सम्पादक

साधक की साधना जिन कारणों से पुष्ट हो वही अमृत और जिन बातों से साधना क्षीण हो, नष्ट हो, वही साधना का विष है। जीवन-प्रेमी सदा विष से बचना चाहता है, अन्यथा उसे जीवन से हाथ धोना पड़े। इसी प्रकार साधक के संयम-जीवन के लिये भी कुछ हलाहल विष है। साधक थोड़ी सी गफलत कर जाय तो उसका संयम-जीवन दूषित और अंत में नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। संसार की विभिन्न साधनाओं में जैन साधक की साधना अपना विशिष्ट स्थान रखती है। जैन साधक केवल त्याग की ऊँची प्रतिज्ञा लेकर या वेष बदलकर ही नहीं रहता, वह इन्द्रिय और कषायों का मुंडन कर साधना में ज्ञानपूर्वक तन, मन एवं वाणी को कसता है। वह निरारंभ और अपरिग्रही होकर पूर्ण वीतरागता की ओर आगे बढ़ता है। उसके साधक जीवन में पहली शर्त सदाचार सम्पन्न होना और दूसरी शर्त आरम्भ-परिग्रह के फंदे से बचे रहना है। जैन साधु दोनों शर्तों को पूर्ण रूप से निभाता है और जरा भी कहीं स्खलना न हो जाय इसके लिये सदा जागरूक रहता है। सच्चा साधक विषय-कषाय को जीतने की साधना करता है और जरा भी गलती हुई तो स्वयं ही अपना आलोचक बनकर शुद्धि करता है। शास्त्र में स्पष्ट कहा है कि जो व्यक्ति साधक बनकर भी निद्रा में व्यस्त रहता है और खा-पीकर सुख से सोया पड़ा रहता है, शास्त्र की भाषा में वह पाप श्रमण है।

जे केई पव्वइ निद्दासीले पगामसो।
भुच्चा पिच्चा सुहं सुवइ पावसमणेत्ति वुच्चइ।।

-उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 17, गाथा-3,

इस गिरावट का कारण प्रमाद है। इसलिये संयमी को प्रमाद से बचने का खास ध्यान दिलाया गया है।

आज हम लोग जब व्रत लेते हैं तो बड़े उमंग और उत्साह से मार्ग ग्रहण करते हैं। परन्तु दीक्षित

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होने के पश्चात् कुछ ही दिनों में लक्ष्य भूल जाते हैं। परम दयालु वीतराग भगवन्त ने कहा है कि संयम-जीवन सुरक्षित रखना हो तो तीन प्रकार के विष से सदा बचें- 1. विभूषा- शरीर व वस्त्रादि की शोभा, 2. स्त्री संसर्ग और 3. प्रणीत रस-भोजन। आत्म-साधक पुरुष के लिये ये तीनों तालपुट विष हैं-

विभूसा इत्थि-संसग्गो पणीयरसभोयणं।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा।।

-दशवैकालिक, अध्ययन 8, गाथा-57

साधना का प्रथम विष 'विभूषा' है। विभूषा से भोग-रुचि और कामियों को आकर्षण होता है। ब्रह्मचारी के लिये कहा है कि वह विभूषानुवादी नहीं बने। शरीर और वस्त्रादि की सजावट करने वाला स्त्रीजनों के लिये प्रार्थनीय होता है। स्त्रियाँ उसके पास प्रसन्नता से आयेंगी और प्रेम से बातें करेंगी। उनके प्रेमालाप को देखकर लोगों में शंका होगी कि यह साधक कैसा है, जो स्त्रियों से बातें करता है। इसके अतिरिक्त मन की आकुलता से समय पर रोग की उत्पत्ति होगी व संयम-जीवन से भी भ्रष्ट हो सकता है।

अतः परीषह नहीं सह सकने और शासन की हीलना, लघुता आदि कारणों से वस्त्रादि धोना पड़े तो संयमी साधक को चाहिये कि उसमें भोगी व्यक्ति की तरह दिखावे का रूप नहीं करे। विभूषा के लिए हाथ, मुँह, पैर धोना, बाल संवारना, नख बनाना, चोलपट्टे पर अच्छे लगे वैसे सल डालना आदि सभी कार्य विभूषा है। निर्मल चमकीले वस्त्र, कड़पदार मुँहपत्ती, आंख पर बढ़िया रंगीन चश्मा और हाथ में रंगीन छड़ी इस प्रकार चटकीले वेष से बने-ठने रहना, संयमी जीवन के लिए दूषण है। लोक में अपवाद और जिनाज्ञा का भंग है। सदाचारी गृहस्थ और विद्यार्थी के लिये भी तेल, साबुन, अंजन, क्रीम, पाउडर आदि निषिद्ध माने गये हैं। तब पूज्य संयमी साधु के लिये तो उनका उपयोग हो ही कैसे सकता है?

श्री दशवैकालिक सूत्र में संयम के अठारह स्थान कहे हैं। उन अठारह में से किसी एक से स्खलित होने पर भी निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट कहा गया है। उनमें विभूषा भी एक स्थान है। शास्त्रकार कहते हैं- "जो मैथुन से उपरत है उसका विभूषा से क्या काम है?"

मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाए कारियं।।

-दशवैकालिक, अध्ययन 6, गाथा 65

यह भोगियों का शृंगार एवं भूषण है, पर भोग-त्यागी मुनि के लिये दूषण है। विभूषा से शरीर का सौन्दर्य बढ़ता है, इन्द्रियों में उत्तेजन आता है और सुन्दरता के कारण स्त्री पुरुषों का आकर्षण केन्द्र बन जाता है। फलस्वरूप स्वयं में देहाभिमान जाग्रत हो जाता है। विभूषा मोहभाव को जाग्रत कर साधक को प्रमत्त बनाती और सुगति मार्ग में अवरोध करती है। देखिये दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि- "जो श्रमण सुख का स्वादी और साता सुख के लिये आकुल है, अधिक सोने वाला और शरीर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि को पुनःपुनः पखालने वाला है, उसको सुगति प्राप्त होना दुर्लभ है।''

सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणा-पहोअस्स दुल्लहा सुगई तारिसगस्स।।

-दशवैकालिक, अध्ययन 4, गाथा 26

अतः साधक को ब्रह्म रक्षा के लिये सदा सादे रूप में रहना चाहिये।

विभूषा के निमित्त जीव विराधना करते हुए भिक्षु चिकने कर्म बांधता है और फिर उस कर्मभार से संसार-सागर में गिर जाता है।

विभूसा वतियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसार-सायरे घोरे जेणं पडइ दुरुत्तरे।।

दशवैकालिक 6, गाथा 26

मुमुक्षु श्रमणों को चाहिये कि शरीरादि की बाह्य विभूषा छोड़कर ज्ञानादि गुण चमकाने वाली भाव-विभूषा को ग्रहण करके लोक और लोकोतर दोनों को गौरवशाली बनावें।

हम देखते हैं कि कुछ संत-सतीजन युगधर्म के प्रवाह में आत्म-धर्म एवं आज्ञा धर्म को भूल रहे हैं। कदाचित् वे समझ रहे होंगे कि उज्ज्वल वेशभूषा से धर्म की प्रभावना होती है, बड़े-बड़े नेता अधिकारी लोगों से सहज ही मिलना होता है, पर उनको समझना चाहिए कि प्रभावना त्याग, तप और विद्वत्ता से होती है। महात्मा गाँधी अर्द्धनग्न दशा में भी देश-विदेश के आकर्षण-केन्द्र बने हुए थे। उनका आत्मबल और त्याग ही प्रभावना का कारण था। उनके अर्द्धनग्न वेष और खादी के कपड़ों में भी बड़े-बड़े साहब झुका करते थे। हम श्रमणों को तो लोगों के वन्दन की भी अपेक्षा नहीं हैं। फिर दूसरों को अच्छा लगेगा या नहीं, इसकी परवाह क्यों की जाये?

नीति में भी 6 कारणों से व्रतधारियों का पतन बताया हैः-

ताम्बूलं देहसत्कारः स्त्री कथेन्द्रियपोषणम्।
नृपसेवा, दिवानिद्रा, यतीनां पतनानि षट्।।

1. ताम्बूल, 2. शरीर का सत्कार, 3. स्त्री-कथा, 4. इन्द्रिय-पोषण, 5. राज-सेवा, 6. दिवानिद्रा-ये छह यतियों के पतन में हेतु है। इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है- ''विभूषा का त्याग करे, ब्रह्मचर्य में रमण करने वाला भिक्षु शृंगार व शोभा के लिए शरीर का मंडन भी नहीं करे-

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमंडणं।
बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए।।

-उत्तराध्ययन,16, गाथा 9

साधना का दूसरा ज़हर है- स्त्री-संसर्ग। ब्रह्मचारी पुरुष के लिये जितना स्त्री-संसर्ग वर्जनीय है, उतना सती साध्वी नारी के लिये पुरुष का संग और सहवास भी वर्जन योग्य है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नियमों में स्त्री वाले घर में रहना, एक साथ बैठना, स्त्रियों में कथा करना, सराग दृष्टि से देखना, स्त्रियों के रूप सौंदर्य और वेशभूषा की कथा करना, विकारी शब्द सुनना, पूर्व क्रीड़ा का स्मरण करना आदि के त्यागरूप नियम स्त्री-पुरुष के संसर्ग की सीमा निर्धारित करते हैं। कल्याणार्थी का सत्संग, सभा और प्रवचन करने के अतिरिक्त जितना शक्य हो, स्त्री-संग से बचते रहना चाहिये। स्त्रियों में बैठकर भजन गाना, सिखाना, पढ़ाना या धर्म-उपदेश के नाम से अमर्यादित बैठे रहना हितकर नहीं है।

दशवैकालिक सूत्र के आठवें आचार प्रणिधि अध्याय में कहा है कि "मुर्गे के बच्चे को जैसे बिल्ली से सदा भय बना रहता है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी सदा स्त्री के देह से भय रहना चाहिये।"

इसी शास्त्र में कहा है कि चित्रमय भित्ति अथवा अलंकृत नारी को कभी नहीं देखे। कदाचित् कभी दृष्टि गिर ही जाय तो जैसे सूर्य को देखकर नजर खींच ली जाती है वैसे ही दृष्टि को खींच लो। फिर कहते हैं-

जिसके हाथ पैर टूट गये और नाक काट ली गयी हो वैसी शतायु वृद्धा हो तब भी संयमी पुरुष नारी का संग न करे।

किसी बुद्धिवादी शिष्य ने पूछा- "महाराज! इतने कठोर नियमों के बंधनों में बांधने की अपेक्षा तो शिष्य का ज्ञानभाव ही ऐसा क्यों न जागृत कर दिया जाय कि कहीं जाओ और किसी के संग रहो जैसी शंका करने की आवश्यकता ही नहीं रहे। जब योग्य समझकर शिष्य बना लिया, तब फिर इतना अविश्वास क्यों? धर्म का पालन तो मन से होगा, बाहर से दबाव से उन्हें कहाँ तक रखोगे?"

उत्तर देते हुए गुरु ने कहा- "ठीक है, ज्ञानभाव जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है और उसके लिये निरंतर शास्त्र-वाचन और चिन्तन से प्रेरणा दी जाती है। फिर भी सबका क्षयोपशम समान नहीं होता। सिंह गुफा वासी मुनि की तरह उसमें दुर्बल मनोबल वाले साधक भी होते हैं। परम त्यागी मुनि नंदीषेण की तरह कभी ज्ञानी भी मोह के चक्र में आ जाते हैं। इसलिये अंतरंग की तरह कुछ बाह्य नियम भी सुरक्षा और व्यवहार के लिये आवश्यक माने गये हैं। जितेन्द्रिय ज्ञानी के लिये भी व्यवस्था की दृष्टि से उन बाह्य नियमों का पालन आवश्यक होता है। कहा भी है- "स्त्रियों के रूप को नहीं देखना, नहीं चाहना, नहीं सोचना और कीर्तन नहीं करना, यह आर्यजनों के ध्यानयोग्य व्यवहार ब्रह्मव्रती के लिए सदा हितकर होता है।"

जितेन्द्रिय साधक तीन गुप्तियों से गुप्त होकर सुसज्जित देवियों के द्वारा भी विचलित नहीं होता, इतना उसमें सामर्थ्य है, फिर भी वीतराग प्रभु ने एकान्त हितकर मानकर मुनियों के लिये विविक्त एकान्तवास प्रशस्त कहा है-

विवित्तवासा मुणीणं पसत्थो।। - उत्तरा. 32.16

मनुष्य की मनःस्थिति सदा एक सी नहीं रही। न मालूम किस समय मोह का उदय हो जाय और ज्ञान की पतवार हाथ से छूट जाय, इसलिए संयमी स्त्री-पुरुष को सदा अप्रमत्त एवं विषयसंग से दूर रहना

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए।

साधक स्वयं में निर्दोष रहे तब भी संगदोष से जनमन में अविश्वास का कारण बन सकता है। इसलिए नीति में कहा है-

''यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्।''

उत्तराध्ययन सूत्र में बतलाया गया है कि लोहकार की शाला, खान, दो घर की सन्धि और राजमार्ग में कहीं भी अकेला साधक, नारी के साथ न खड़ा रहे और न बात ही करे। शास्त्राज्ञा की अवहेलना करने वाले कभी-कभी अच्छे-अच्छे विद्वान भी ठगे जाते हैं। भगवान महावीर ने साधक के ज्ञानभाव को जगाकर, अशुचि भावना से उसके मन में विषयों के प्रति घृणा उत्पन्न की, तन की नश्वरता से वैराग्य उत्पन्न किया और आत्मज्ञान से बाह्य रंगरूप की ओर उपरति बढ़ाई। इतना सब करके भी उन्होंने साधक को ज्ञान भाव के नाम से असुरक्षित नहीं छोड़ा। स्थूलभद्र और सेठ सुदर्शन के आदर्श की तरह उनके सामने रथनेमि एवं सिंह गुफावासी मुनि के उदाहरण भी थे।

एकान्त में स्त्री का निमित्त पाकर ही रथनेमि जैसे विशिष्ट त्यागी भी विचलित हो गये। अतः शास्त्रकार ने स्पष्ट कहा है कि जहाँ विकारी वातावरण हो, स्त्री-पुरुषों के कलह कोलाहल कर्णगोचर हों, स्त्रियों का बार-बार आना जाना हो वहाँ मत ठहरो। ''विवित्ता य भवे सिज्जा'' साधक के लिये निर्दोष एकान्त शय्या होनी चाहिये। आज के सघन आबादी वाले नगरों में जहाँ घरों के बीच उपाश्रय होता है, पूर्ण शान्तता नहीं रहती। बहुत से उपाश्रयों के सामने गृहस्थ के खाने-पीने एवं सोने बैठने के स्थान खुले दिखते हैं। सचमुच आज के वसतिवास में इन दोषों से बचना कठिन हो गया है।

फिर भी संयमधारियों को आत्म-रक्षण करना है तो धर्म-स्थान में सेवा के नाम पर स्त्रियों को बिठाना अनावश्यक संसर्ग है। प्रवचन और शास्त्रकथा के अतिरिक्त साधुओं के यहाँ स्त्रियों के अधिक समय तक रहने से ज्ञान-ध्यान में विक्षेप और चंचलता का कारण होता है।

कुछ लोगों का खयाल है कि स्त्रियों को समझाने से काफी काम हो सकता है, कारण कि सारा परिवार ही उनसे प्रभावित रहता है। अतः साधुओं को उन्हें बोध देना आवश्यक है। ठीक है, उनकी भावुकता और धर्म परायणता योग्य मार्गदर्शन पाकर अवश्य काम कर सकती है, किन्तु साधकों को ध्यान रखना चाहिये कि हमको लेने के कहीं देने न पड़ जाय। वे ज्ञान देने के बदले कहीं अपना ज्ञान न गंवा बैठें। इसलिये आवश्यक शिक्षा और उपदेश भी प्रवचन के समय ही देना चाहिये। एकान्त या व्यक्तिगत शिक्षा तो सर्वथा ही अकल्याणकर है।

साधुओं को ज्ञान-ध्यान में बाधा न हो, इसलिये जिज्ञासा वाली माताओं को भी अपना अभ्यास सतियों के पास ही करना चाहिये। कोई खास शंका-स्थल हो या किसी विशेष को समझना हो तो व्याख्यान चौपी के पश्चात् समझ लेना, पर असमय में अमर्यादित बैठे रहना उचित नहीं। स्त्री-संसर्ग से संयम का तेज क्षीण होता है, इसलिये आत्मार्थी के लिये यह हलाहल विष है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रणीत रस-भोजन साधना का तीसरा विष है। संयमी पुरुष 6 कारणों से आहार करता है, जैसे-1. क्षुधा-निवारण, 2. वैयावृत्त्य, 3. ईर्या शोधन, 4. संयम-निर्वाह, 5. प्राणधारण और 6. धर्म-चिन्ता। साधक स्वाद के लिये नहीं खाता, बल बढ़ाने या रंग रूप के लिये भी नहीं खाता। 'संजम-भार-वहणट्ठयाए अक्खो वंजण-वण-लेवाणुभूयं' संयम भार को वहन करने के लिये संयमी ऐसा भोजन करे जैसे चाक की नाभि में तेल और घाव पर लेप लगाया जाता है। स्निग्ध, भारी एवं विकार-वर्धक आहार नहीं करे, क्योंकि प्रमाण से अधिक रस के भोजन सेवन से शरीर में उत्तेजना बढ़ती है और दर्प युक्त को काम आ घेरता है, जैसे स्वाद फल वाले वृक्ष को पक्षी आ घेरते हैं। ब्रह्मचारी को नित्य दुग्ध आदि सरस भोजन नहीं करना, कदाचित् प्रणीत रस का भोजन हो जाय तो जप-तप शास्त्राभ्यास या सेवा से सार निकालना चाहिए। शास्त्र में कहा है-"जो दूध, दही, घी आदि विगय का बार-बार सेवन करता और तपस्या के समय अरति करता है, खेद मानता है उसे पाप श्रमण समझना चाहिए।" तरुण साधुओं को बिना कारण प्रहर दिन पहिले नहीं खाना चाहिए और शक्ति अनुसार पर्व तिथियों पर व्रत-साधन का ध्यान रखना चाहिये। मानी हुई बात है कि भोजन का विचार और साधना पर भी बड़ा असर पड़ता है। वैदिक परम्परा में भी कहा है कि "युक्ताहार-विहारस्य योगो भवति दुःखहा।" उसी का योगसाधन दुःखनाशक बनता है जो उचित आहार-विहार वाला है।

अनादि अविद्या का प्रभाव है कि प्राणी राम का साधन सिखाने पर भी नहीं करता और काम की ओर बिना शिक्षा भी दौड़ता है। कहा भी है नः-

रहिमन राम न उर बसे, रहत विषय लपटाय।
पशु खर खात सवादसों, गुड गुलियाइ खाय।।

इस प्रकार विषयों में बलात् मन के जाने का प्रधान कारण विकृत आहार है। विगइ और महाविगइ नाम रखने के पीछे भी उनका गुणधर्म रहा हुआ है। दूध, दही, घृत आदि को विकार-वर्धक मानकर जहाँ विगइ कहा है वहाँ मधु, मद्य एवं मांस आदि को महाविगइ कहा है। संयमी मुनि के विशेषण में शास्त्रकार ने "अन्ताहारे, पन्ताहारे, अरसाहारे, विरसाहारे, लुहाहारे, तुच्छाहारे" पद कहे हैं। साधक मुनि का भोजन प्रधानता से सरसाहार नहीं होता। अन्य मतों के साधक भी ब्रह्मचर्य की साधना के लिये फल, फूल, सिवार आदि से निर्वाह करना उचित मानते हैं। उत्तेजक आहार वहाँ भी अग्राह्य माना है।

भर्तहरि जैसे प्रसिद्ध योगी जो नीति के पारायण और काम कला के पूर्ण अनुभवी थे, ने नीतिशतक, वैराग्यशतक और शृंगारशतक की रचना की। मनोहर रूपा नारी को संसार तरु का फल मानने वाले जब उसकी असलियत समझ गये तो धिक्कार देते हुए निकले और वैराग्य रंग में रंग कर जब विषय से विमुख हुए तो ब्रह्मचारी के आहार-विहार का विचार किया।

सरस आहार से बलवीर्य की वृद्धि होती है और इन्द्रिय एवं मन में उत्तेजना आती है। इसलिये शास्त्र में भी कहा है कि प्रणीत आहार करने वाले ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका होगी, कांक्षा होगी,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

संयोग पाकर चारित्र का भेद होगा, अथवा उन्माद प्राप्त कर लेगा। मानसिक उत्तेजना की अधिकता में कभी दीर्घकाल का रोग हो जायेगा और केवली के धर्म से भ्रष्ट हो जायेगा। इसलिये साधु-साध्वी को चाहिये कि प्रणीत आहार नहीं करें। रुक्ष और सादा भोजन भी प्रमाण से अधिक करना अहितकर है। जैसे कि कहा है- परिमाण से अधिक आहार नहीं करने वाला निर्ग्रन्थ होता है।

शास्त्र में चार कारणों से मैथुन संज्ञा का उदय बतलाया है। प्रथम-वेद का उदय, दूसरा रक्त मांस की वृद्धि, तीसरा स्त्री आदि काम के साधन देखना, सुनना और चौथा काम-भोग की कथा करना। इनमें रक्त-मांस की अनावश्यक वृद्धि भी विकार का कारण मानी गई है। अतःरक्त-मांस की वृद्धि को संतुलित रखने के लिए आहार का नियन्त्रण आवश्यक है।

शास्त्र में मुनियों को अन्तजीवी, पंतजीवी, लूहजीवी तुच्छजीवी, उपसन्तजीवी, पसन्तजीवी आदि विशेषणों से वर्णित किया है। प्रान्त, रुक्ष और निस्सार भोजन से वे उपशान्त एवं प्रशान्त जीवन वाले होते हैं। उनका अन्तःकरण निर्मल और क्रोध आदि विकारों के उपशम से शान्त होता है।

काम की अग्नि, भोग की सामग्री से शान्त होने की अपेक्षा अधिक प्रज्वलित होती है। तृणभक्षी प्राणी भी वासना में विफल होकर प्राण गंवा बैठते हैं तो फिर मधुरान्न भोजी मानव की तो बात ही क्या है? जीवनभर सुवर्ण, पुष्पा, पृथ्वी के सुमनों का चयन करने वाली पिंगला की प्रीति में मातृ प्रेम को भी ठुकराने वाले महाराज भर्तृहरि जब उसकी असलियत समझ गये तो यह कहते हुए निकले कि 'धिक् तां च तं च मदनं च, इमां च मां च' धिक्कार हो पिंगला को और उस हस्तिपाल को, कामदेव को, इस वेश्या को और मुझको भी धिक्कार है।

ब्रह्मचर्य व्रत की पंचम भावना में संयमी साधु के लिये दूध, दही, घी, मक्खन, गुड़, तेल, शर्करा, मधु, मद्य और मांसादि विगय से रहित आहार ग्राह्य बताया है। वह भी बहुत नहीं, नित्य नहीं और शाकभाजी की बहुलता वाला भी ग्रहण नहीं करे।

इस प्रकार से समझा जा सकता है कि संयमी के लिये आहार-शुद्धि का कितना गंभीर विचार किया गया है। प्राचीन समय के संत लम्बा तप नहीं करने की स्थिति में रूखी रोटी और छाछ पर वर्षों बिता दिया करते, कई विगय के त्यागी होते। आहार शुद्धि से उनकी साधना में ब्रह्मचर्य का तेज भी चमका करता था। कभी कोई उपद्रव वाले स्थान में भी ठहरा देता तो उनके ब्रह्म तेज से मिथ्यात्वी देव-देवी भी उनके चरणों में आ झुकते। दशाश्रुतस्कंध सूत्र में स्पष्ट कहा है-

"अप्पाहारस्स, दंतस्स, देवा दंसेइ ताइणो।"

अर्थात् "अल्पाहारी जितेन्द्रिय मुनि के देव भी दर्शन करता है।" वीर पुत्र श्रमणों को अपना ब्रह्म तेज यदि अक्षुण्ण रखना है तो अवश्य ही उन्हें आहार-विहार पर आवश्यक नियन्त्रण रखना होगा।

-जिनवाणी, जनवरी-2003 से साभार

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org